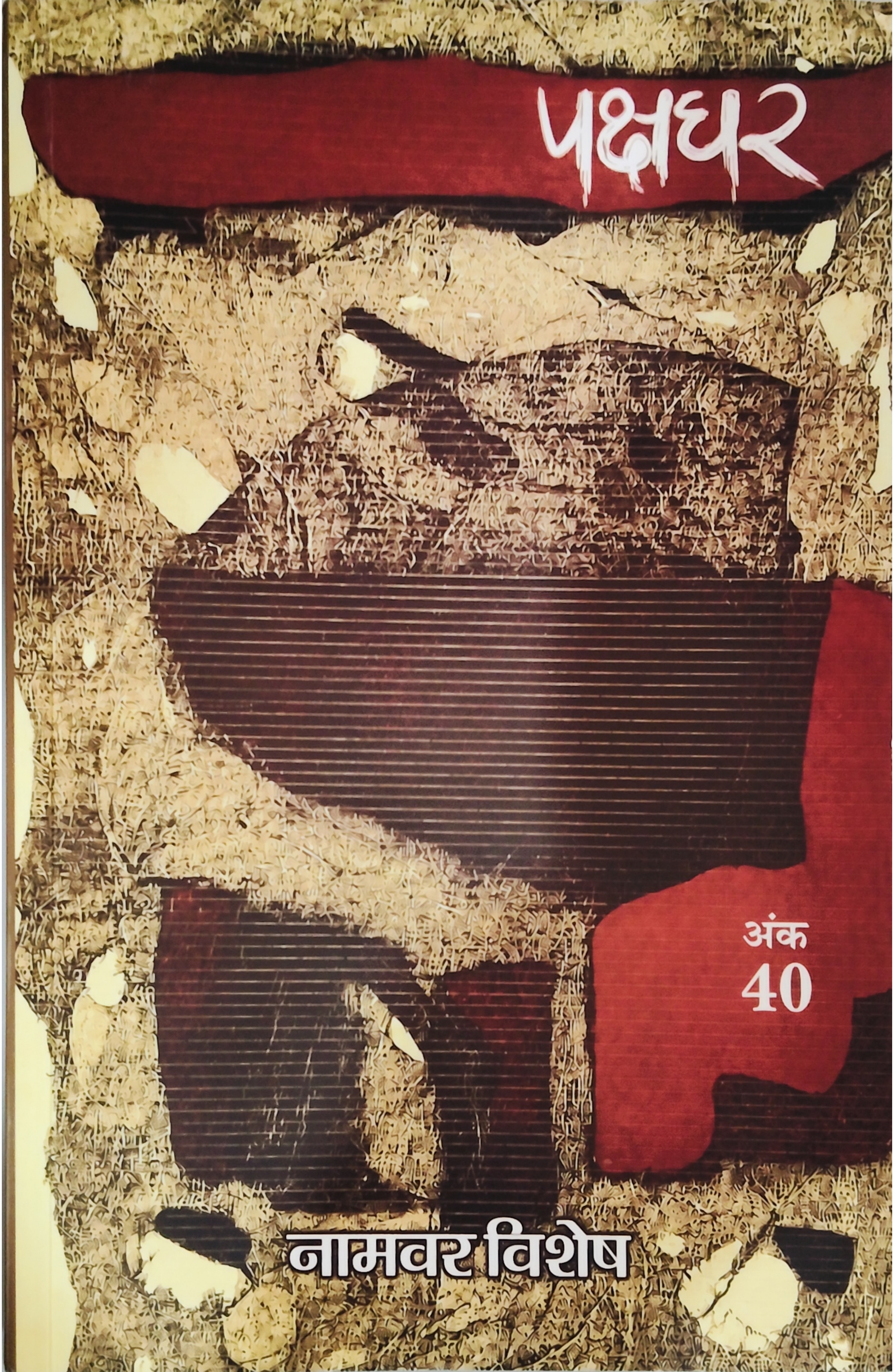

पक्षधर
अंक
40
नामवर विशेष

संस्थापक संपादक : दूधनाथ सिंह

पक्षधर

प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

वर्ष : 20 अंक : 40 जनवरी-जून, 2026

संपादक

विनोद तिवारी

संपादन सहयोग

आशीष मिश्र

गायत्री यादव

पक्षधरता का संबंध मनुष्य के विश्वबोध और सद्-असद्
विवेक-बुद्धि अर्थात् अंतरात्मा के विवेक से है।

अक्षर संयोजन
कम्प्यूटेक सिस्टम
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण चित्र : यूसुफ़, कैनवास : 36 × 48 इंच

मूल्य : एक प्रति : ₹ 200 (व्यक्तिगत) ₹ 250 (संस्थागत)

सदस्यता :
वार्षिक (व्यक्तिगत) : ₹ 500 (डाक खर्च सहित)
वार्षिक (संस्थागत) : ₹ 600 (डाक खर्च सहित)
पंचवार्षिक : ₹ 3000
आजीवन : ₹ 10000
विदेश के लिए : $ 100 (वार्षिक)

भुगतान हेतु बैंक-खाता विवरण :
A/c Name / No. : Pakshdhar / 31266280438
Bank : SBI / IFSC-SBIN0001067

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक **विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012** के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

सम्पर्क :

सी-4/604, ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5,
वसुंधरा, गाज़ियाबाद-201012
मो. 9560236569
ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com
वेब पता : www.pakshdhar.com

PAKSHDHAR
A Bi-Annual Literary Magazine
Editor : Vinod Tiwari
Language : Hindi

यह अंक शजारेह तैय्यबे
गर्ल्स स्कूल, मीनाब (ईरान)
में, अमेरिकी और इजरायली
हमलें में मारी गयीं 168 मासूम
बच्चियों को समर्पित।

अनुक्रम

कविताएँ

डायरी अंश

समीक्षाएँ

सह-अस्तित्व

अखिलेश सिंह

कवि, कहानीकार और अनुवादक। पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ प्रकाशित। केन्द्रीय वित्त मंत्रालय, दिल्ली में कार्यरत।

मैं तुम्हें फ़िक्शन बना दूँगा...

महीनों से तुम खड़भड़ा रहे हो, चिंचिया रहे हो, कुछ-कुछ दूरी की स्प्रिंट लगा रहे हो, जो कुछ भी मेरे इस्तेमाल में है उन सबको छूते, लतियाते तुम गुज़र रहे हो। तुमने अपनी राह को अब मेरे कमोड तक लंबा कर लिया है। तुमने मेरे बिस्तर को, किचेन के स्लैब को अपना कमोड बना लिया है। सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते तुम्हारी लेंड़ियों से घिरा हुआ हूँ मैं।

मेरी स्क्रीन से तुम्हीं झाँक रहे हो। मेरे बोध पर तुम चढ़ बैठे हो। मैं अपनी झुँझलाहट छुपाता हूँ कि तुम सब मुझे देख रहे हो। मेरी परेशानी देखकर, और खुश हुए जा रहे हो। मुझे हर कहीं तुम्हारे दाँत दिखते हैं। तुम्हारा कुनबा बढ़ता ही जा रहा है। तुम बीस-पच्चीस हो चुके हो सक्रिय, पीड़क, परजीवी। तुम्हें मारना क्रूरता कही जायेगी। तुम्हारे ख़िलाफ़ कविता लिखना भी निरापद नही है। चूहों से कुढ़ते हुए कवि भी चूहों के बारे में कोई सख़्त बात नहीं कह पाते हैं। वे उन्हें महज़ चूहे कहकर ही संतुष्ट दिखते हैं। चूहे कभी भी आख़िर चूहे ही नहीं होते हैं, वे जीवन की महिमा तो क्या जीवन और महिमा जैसी अवधारणाओं को भी नष्ट कर जाएँगे। कविताएँ पथ-प्रदर्शक हो सकती हैं? क्या मेरे ज़ेहन तक सचमुच कोई रास्ता आ रहा है? क्या फ़िक्शन कोई समाधान है? लेकिन समस्याओं के समांतर और क्या ही हो सकता है समाधान की तरह, फ़िक्शन के सिवा!

महीनों चूहों से परेशान रहने के बाद, एक दिन मैं इन्हीं एकालापों से गुज़र रहा था। चूहों को साधन बनाकर लिखी हुई पंक्तियाँ मुझे सुकून नहीं दिला पा रही थीं। एक चूहे जैसे जीव से अतिक्रमित और त्रस्त मनुष्य, रूपक में बात नहीं कर सकता फिर, चूहे तो कभी भी सचमुच चूहे होते हैं। जबतक मैं कुछ सोचता हूँ, तबतक वे फल, सब्ज़ियाँ और घर के जो भी सामान उन्हें दीख जाते हैं, उसे कुतर चुके होते हैं और दस-पाँच जगह लेंड़ी फैला चुके होते हैं।

चूहों से परेशान मैं; बचे-खुचे या ध्यान में आ रहे मनुष्यों के बारे में सोचता हूँ, वे भी अब इतने लिहाज़ या लिमिट में नहीं रहे कि उन पर किसी रूपक में बात की जाए। अब तो वे पूरे-के-पूरे गधे हैं, या चूहे हैं या फिर कुत्ते। उस पर विडंबना यह कि उन मनुष्यों को ऐसा कहने से वे सीधे-सीधे अपने लिए कुढ़ते हुए नाराज़गी नहीं जताते, बल्कि कुछ इस तरह के प्रवाद संभव करते हैं :

'गधा सीधा जानवर होता है'

'चूहों के प्रति क्रूरता बुरी बात है'

'कुत्तों को मनुष्य की प्रवृत्ति से जोड़कर संकीर्णता का परिचय दिया जा रहा है'

ओफ्फोह! कैसे-कैसे प्राणी-प्रेमी इश्तिहारी वाक्य उछालकर, वे अच्छी ख़ासी नैतिक बढ़त बना लेते हैं। इससे मुझे गधा-चूहा-कुत्ता विरोधी होने का विरोध भी झेलना पड़ सकता है। मनुष्य की बुराइयों की परिभाषा विस्तार लेना चाहती है, अब वह इन जीवों का विरोधी होने की हाय-हाय भी सुन सकता है। लक्षित मनुष्य या उसके बहुवचन तो बिल्कुल अलक्षित छूट जाते हैं। हाय-हाय के सूतों से बुना हुआ, कभी न फटने वाला और इतना बड़ा कोई पर्दा मनुष्य ने आज तक बनाया ही नहीं।

चूहे बिल्कुल चूहे हैं, और उनसे पीड़ित घिसा-पिटा आधा-अधूरा मैं हूँ। चूहों में किसी भलाई के भाव की मैं कल्पना नहीं कर सकता हूँ। वे मुझे किसी के मित्र नहीं दीखते। कबूतरों के जाल काटने वाली कथा ने उन्हें जो ग़लत प्रतिष्ठा दिलाई थी, उसे एक और कथा से ही सुधारना होगा। वे तो अपने कुनबे के भी मित्र नहीं हैं। कुछ चूहों को मारने से बाक़ी सारे चूहे शोक में नहीं दीखते, बल्कि वे उसी तरह चकराते, चिंचियाते, कुतरते, लेंड़ी करते पाए जाते हैं, जैसे अभी थोड़ी देर पहले थे। शोक करना, सबक लेना, अपनों के लिए लड़ना ये सारे मानवीय गुण हैं। चूहों में ऐसी बातें भ्रमवश ही दिखाई दे सकती हैं। वे अतिव्याख्याओं में ही थोड़े सही पाए जा सकते हैं। उनके लिए अतिव्याख्यान देने से किसी को गुरेज़ भी नहीं। यह चलन में है।

बहरहाल, बुधवार के दिन, मैंने सोचना शुरू कर दिया। साप्ताहिक आयोजनों के बीच बुधवार एक न्यूट्रल दिन है, इसदिन कोई भी कार्य करने या शुरू करने में यक़ीनी तौर पर कोई अपशकुन या अतिक्रमण का ख़तरा नहीं जान पड़ता है।

कई दिनों तक चूहों की हर हरकत का बदला, मैं उनके बिल्कुल बराबर ही कलम घिसते हुए लेता रहा। उन्हे देखते-देखते और लिखने के लिए उस देखे हुए का स्मरण करते-करते, उनके और मेरे बीच कुछ बहुत तेज़ी से घटित हो रहा है। यह मुझमें ही हो रहा है। मैंने पहले ही कहा है कि वे मेरे बोध पर चढ़ बैठे हैं। मैं खटके में सोता हूँ और खटके से जागता हूँ। कई बार मुझे मेरे कान उन्हीं चूहों की तरह खड़े हुए लगते हैं। मैं अपने कान छूता हूँ और कुछ देर तक के लिए खुद को आश्वस्त करता हूँ कि वे अब भी वैसे ही हैं। बैठे-बैठे अचानक से मैं खुद को अगले हाथों पर आगे की ओर झुके हुए पाता हूँ, और देखता हूँ कि मेरी आँखें तीख़ी गोल स्थिर हो गई हैं। और ज्यादा क्या बताऊँ, कुछ ही दिनों में कई बार मुझे सोते हुए लगा कि मेरी पूँछ उग आई है। उस पूँछ को टटोलते हुए मेरी आँख खुलती और मेरा हाथ सुन्न पड़ा मिलता। उन चूहों का रोज़मर्रापन ऐसे विचारहीन अभियानों की नुमाइंदगी है, जिनके दावे तो प्रबल हैं लेकिन लक्ष्य सिर्फ़ कोलाहल में बिला जाना है। उनके बारे सोचते हुए मैं स्वयं से भी फुसफुसाने लगा हूँ, विचारहीनता में बिलाने लगा हूँ।

क्या यह सब कुछ उन्हें फ़िक्शन में बदलते रहने का ही परिणाम था। मैं उन्हें फ़िक्शन

मैं बदल रहा था और खुद को चूहे में। लेकिन इससे उनकी संख्या तो कम नहीं हो रही थी, बल्कि बढ़ती ही जा रही थी। पहले वे एक-दो की संख्या में दिखते थे, लेकिन इधर उनकी संख्या बढ़ती रहने और फ़िक्शन बनाने में मेरी मसरूफ़ियत के चलते, वे अब काफ़ी ढीठ हो चुके थे। पहले तो कभी-कभार दीखते थे और शरमा कर भाग लेते थे, लेकिन अब; अब तो वे उस हर वरक़ को खा जाना चाहते थे, जिसे मैंने कभी छुआ हो। मैं एक तरफ़ लिखता जाता और दूसरी तरफ़ वे उसे खाते जाते। वे मेरे चलने की लकीर तक मिटा डालने पर अमादा थे। उनकी खोपड़ी में कुछ अजीब सी खुजली थी, जिससे उनका मुँह निरंतर चलता ही रहता। देखते-देखते एकदिन उन्होंने मेरे लैपटॉप के कीबोर्ड तक को खा लिया।

दोस्तो! मैंने एक समकालीन, औचित्यपूर्ण और अहिंसक रास्ता चुना था, ताकि उन चूहों के साथ सह-अस्तित्व बना सकूँ। इससे अधिक मैं क्या कर सकता था। पानी अब सर से ऊपर जाने लगा था। रात होते ही मेरे फ़्लैट में किसी हॉरर फ़िल्म के पार्श्व-संगीत जैसी आवाज़ें गूँजने लगतीं। मैं डरता नहीं था, मेरे लिए तो अब तक के सारे अनुभूत और दृश्यमान सत्य अब पूर्वपरिभाषित हैं। एक रात को लेटे-लेटे मैंने बड़ी भीषण आइरनी महसूस की। सारी रात मैं सो नहीं सका। मेरी आँखों में नींद नहीं, वही चूहे रहे। मैंने देखा; वे तो अपना एक संसार निर्मित कर चुके हैं, जिसमें वे निर्बाध, निस्सीम, निरापद घूम रहे हैं। उन्होंने मुझे श्रेष्ठतम प्राणी, यानी मनुष्य मानने से मना कर दिया है। यह कम विचित्र बात है, ज़्यादा विचित्र तो यह है कि वे अब मेरे सामान्य मानवीय स्पंदनों भी को लगातार नज़रअंदाज़ करते जा रहे है। उनकी नज़र, उनका ही बोलबाला, उनका ही संसार। उफ़्फ़! वे जो कुछ करें स्वीकार्यता की ठसक में हन्नाये हुए करें?

अगली सुबह मैंने उन्हें चप्पल फेंककर मारा। झाड़ू से मारा। इधर-उधर, फ़्लैट के हर कोने अंतरे, वे जहाँ कहीं भी दीखते मेरे चप्पलों और झाड़ुओं की छाप वहाँ पड़ जाती। मेरे पास अन्य कोई चारा नहीं था। किंतु एक भी बार वे निशाने पर नहीं आते। उन चूहों ने समय के उपजने और ग़ायब हो जाने वाले दृश्यों का ढब इख़्तियार कर लिया था। वे फ़्लैश हो रहे थे, इस कदर कि मेरा दिमाग स्थिर हो कि वे कहीं और फ़्लैश होने लगते। मैं बता ही चुका हूँ कि वे काफ़ी तादाद में थे और उनकी मार्किंग आसान नहीं थी। बस वे फ़्लैश हो रहे थे। उनके प्रकट-अप्रकट का खेल इतना झेलाऊ था कि मुझे मेरी देह गलते हुए दीखने लगी।

उनसे निजात दिलाने के लिए मुझे सलाहें मिलने लगी 'मुझे अपना घर बिल्कुल साफ़ रखना चाहिए। ऐसी कोई जगह घर में न हों, जिससे चूहे अपने घर में होने के भरम में रहें। फिर वे भाग जायेंगे।' हालाँकि मुझे इन फ़िजूल की बातों पर यक़ीन न था। फिर भी, मैंने घर साफ़ करना शुरू किया।

घर साफ़ करने के लिए पहले-पहल मैंने एक नियम बनाया। यह कि पिछले कुछेक वर्षों से जो कुछ भी उपयोग में नहीं है, मैं उन्हें कूड़ा मानकर फेंक दूँगा। हालाँकि यह मुमकिन नहीं था, फिर भी मैंने घर में पड़ी बहुत सी चीज़ें चिन्हित कीं। मैं उन्हें फेंकने लगा। फेंकते-फेंकते मेरी गृहस्थी खाली हो गई। धनिया और हल्दी के पाउडर तक मैंने फेंक दिए। मुझे भ्रम था कि चूहों को उनकी गंध पसंद है। मैंने थोड़े भी पुराने कपड़े, पुराने नोट्स, सब कुछ फेंक दिए। अब सचमुच चूहों की उस जुटान में खलबली थी। वे मुझे चिढ़ाने के लिए और अधिक बरबट्ट होकर चढ़ आए थे, अब भी उन्हें मार पाने में मैं असमर्थ था।

मेरे द्वारा उन्हें साधकर प्रक्षेपित की हुईं सारी वस्तुएँ चूक गईं। चूहों को मारने का कोई सही डंडा या औज़ार बाज़ार में नहीं था। तरकीबें थीं सब जगह बस तरकीबें। मुझे तरकीबें नहीं, तोप चाहिए था जिनसे मैं एक बार में उन्हें उड़ा सकूँ। मैं विज्ञापनों की भाषा से परास्त,

एक हताश चूहा-विरोधी साबित हुआ जा रहा था। एक-दो दिन बीते और मुझे लगा कि मैंने अभी सही से सफ़ाई नहीं की है। मुझे मेरे बिस्तर, बर्तन और यहाँ तक कि बेड, सब फेंक देने चाहिए झाड़ू, चप्पल, पायदान भी। मुझे ख़याल आया कि मै अपना फ़्लैट भी फेंक सकूँ, तो फेंक दूँ। उन चूहों से छुटकारा तो मिले ही, सालाना दो हज़ार के किराए की बढ़त से भी मेरा पीछा छूटे ऐसी कामना में यह सबकुछ मैं सोच रहा था।

मुझे मेट्रो-स्टेशन के नीचे और फुटपाथों पर परोपकारी अभियानों के कंबल ओढ़कर, फ़ोटोजेनिक तरीक़े से निश्चिन्त सो रहे नागरिकों का ख़याल आया। उनकी ज़िंदगी में तो कोई चूहा नहीं है, और चूहों से बचने की कोई मध्यवर्गीय तरकीबें भी नहीं। कितनी भली ज़िंदगी है सिर्फ़ और सिर्फ़ धूल, उपेक्षा और बेनामी से बनी हुई। मुझे दो बार टाइम पर अन्न मिलता है, छत मिलती है, खटराग मिलते हैं, रिश्ते-नाते और चूहे मिलते हैं। मैं बेहतर होने के नारे में झूलता हुआ, शुभता से अब पूरी तरह च्युत हूँ। चूहे काट खाएँ, शोर मचाएँ और जीने न दें यह कोई ज़िंदगी तो नहीं है। मुझे 'माइस एंड मेन' की याद आई, परसाई की याद आई और वीरेन डंगवाल की भी। चूहों ने मेरे जीवन की महिमा सचमुच नष्ट कर दी थी। मैं चूहा-पीड़ित; नाराजीवी, अंतर्कलह से आप्त फ़्लैटजीवी बन चुका था। इस बीच मुझे अपने पिता की याद आई। अम्मा के सुनाए उस गपोलिए की याद आई; जिसमें एक पति अपनी नाराज़ पत्नी को को खुश करने के लिए, अपने चूहे मारने की प्रक्रिया का भदेस वर्णन करता है।

मैंने अपनी स्मृति पर ज़ोर डाला...और...और... अब मुझे कुछ किताबें ध्यान आईं। मुझे लगा कि अनगिनत किताबें ख़रीदने के बाद, मैंने उन्हें कई सालों से छुआ ही नहीं है। मेरा पूरा शरीर झनझना उठा। मैं अप्रामाणिक नहीं होना चाहता था। अभी-अभी मैंने नियम बनाए थे कि एक साल पहले से न इस्तेमाल हुईं चीज़ों को मैं फेंक दूँगा। हो न हो, यह किताबें उन चूहों की शरणस्थली बन रही है और उनके डेंटल ओवरग्रोथ का इलाज भी। इन चूहों की भी क्या ही बीमारी है, कुछ न कुतरें तो मर ही जाएँ। दीखने की, छा जाने की, ग्रैब करने लेने की आजकल बीमारी भी ऐसी ही है। लेकिन मैंने सोचा मुझे ऐसी किसी बीमारी से कोई सहानुभूति नहीं है। ये चूहे साल में सैकड़ों बच्चे पैदा करें या फिर गटर की नाली में रहकर रंग बदल लें, लेकिन इन्होने मुझे बेहाल कर दिया है। एक महिला ने बताया कि शहर में गटर के चूहों का ही सार्वत्रिक आतंक है। वे गटर से निकलकर घरों में जाने के लिए बेचौन हुए रहते हैं और दुबली पतली दफ्ती, प्लाई या पर्दा सभी कुछ खा सकते हैं। गटर के बदबूदार चूहों को रास्ता बना लेने में महारत है।

बहरहाल, मुझे उन किताबों का ध्यान आया और उनको मैंने फेंकना शुरू किया। वे मेरे अस्तित्व के दोगलेपन का परिचयपत्र बनी हुईं धूल खा रही थीं। उनकी सजावटों के टूटने से चूहों ने भागना शुरू किया। किताबें गिर रहीं थीं और चूहे भाग रहे थे। किताबों के गिरने और उनके भागने में एक समान बेतरतीबी थी। तभी एक किताब दिखी। मोटी-भारी। जिसकी कवर पर कुछ 'डॉक्टर...' लिखा हुआ था, सहसा उसे मैंने एक भागते हुए चूहे पर धप्प से पटका। वह एक ऐंठ गया। यह मेरी पहली सफ़लता थी। उस किताब की लंबाई-चौड़ाई और मोटाई ठीक-ठाक थी। उसके भीतर क्या-क्या छपा था; मुझे नहीं पता, लेकिन उसकी अर्थवत्ता साबित हुई और मुझे चूहा-अभियान की तरकीब मिली।

किताबों के फेंके जाने की ख़बर से चूहे किचेन की तरफ़ भागने लगे, उन्हें आजकल इतनी आज़ादी थी कि बस कहीं भी भागते रहने की आदत हो गई थी। वे एक-एक करके किचेन में जा-जा फँसते गए। मैं उन्हें तमाम तरक़ीबों से घेरता रहा और वही किताब उन पर बार-बार पटकता रहा, आख़िर उस किताब से उनके समूह का पहला चूहा मरा था। मैं

उन्हें मारने पर आमादा था, उन्हें मारता गया। बुज़दिल, बेकार, बकयूथन! मरते गए वे एक के बाद एक। मैंने एकदिन में आठ चूहे मारे। मुझे लगा कि अब वे डरेंगे। कोई ऐसी योजना बनाएँगे, जिससे झुँझलाते हुए मैं उन्हें मारने से रुक जाऊँगा। लेकिन नहीं, नहीं...नहीं, वे निघरघट्ट हो चुके थे। बचे हुए सारे वही हरकतें कर रहे थे। कई दिनों की मेरी मारक योजना में वे चपेट में आते रहे, और मरते रहे। उस हरे और काले कलेवर की भारी भरकम किताब पर उनके खून की छींटे भी पड़ती रहीं। मैं ज़ोर दे-देकर उसे धप्प से पटकता और अपने आकार-प्रकार के कारण, वह हर बार लगभग कारगर होती रहती। यह हथियार किसी बाज़ार ने नहीं, मेरे निकम्मेपन ने तैयार किया था।

इस तरह एक-एक करके मैंने तमाम चूहे मार दिए। वे किसी छोर से भागते, दूसरे छोर पर आहत हो जाते। मैं उन्हें दिन के हिसाब से पन्नियों में एकत्रित करता और रात के दो बजे स्कूटी से जाकर हाईवे किनारे फेंक आता। रात दो बजे चूहों का निपटान, एक सावधानी भरा काम था। रात मेरा दलन करती है और मेरे सीने में संसार को दफ़न। ख़बरे रात में ही बनती हैं और फैलती दिन में हैं। क्या पता, वहाँ कोई ख़बर उठी हो कि चूहे पन्नी में फँसकर मर रहे हैं। क्या पता, इस बात पर किसी सफल इन्फ्लुएंसर ने रील बनाई हो, कुछ व्यूज व रुपये कमाए हों।

बहरहाल, अगले कई दिनों तक इस क्रम में मैंने उन्नीस चूहे मारे। न कम न ज़्यादा। मैं इन आँकड़ों के प्रति बेहद आविष्ट हूँ और यह सही भी क्योंकि उन्होंने मुझे ऐसी ही हालत में लाकर खड़ा कर दिया था। इसी बीच, कुछ रोज़ बाद; मुझे बिस्तर में आती बदबू से पता चला कि एक छोटा चूहा जाने कब मेरे गद्दे और चद्दर के बीच, जाने मेरी किस करवट का शिकार हो, चिपक गया था और अब वह वहीं अपने हाँड़ और अपनी खाल के साथ नमूदार था। क़िताब उन चूहों के खून के छींटों से भारी हुई जा रही थी और उसके पन्नों समेत, उसका जिल्द बिगड़ता जा रहा था। लेकिन उसका जिल्द पूरी तरह बिगड़ता कि उसे मैंने रैक में सबसे ऊपर रख दिया। मैंने क़िताबों की अनुपयोगी शक्ल अपने दिमाग़ से खारिज़ कर दी, और उन्हें एक-एक करके सही जगह लगाता रहा। मैंने उन किताबों को उस शक्ल में लगाया कि कभी ज़रूरत पड़ने पर मुझे सही किताब मिल सके, लेकिन वह चूहों के खून में लिथड़ी, हरे और काले जिल्द वाली भारी-भरकम तबाह किताब सबसे ऊपर ही रही। जैसे किसी कबीले के पुरोधा सरदार की तस्वीर, थोड़ा समय और थोड़ी जगह पा लेने पर देवतुल्य हो जाया करती है।

मुझे संगति पसंद है, असंगत उपद्रव नहीं। मुझे नींद और मीठे सपने चाहिए, अनिद्रा और कड़वे मुहावरे नहीं।

चूहे अब भी बचे हैं थोड़े-बहुत; लेकिन वे उतने आक्रामक नहीं हैं, शायद अब उन्होंने मेरे साथ साइलेंट तरीक़े से जीना सीख लिया है। अब वे रात को निकलते हैं, बे-आवाज़ कुतरते हैं, लेंड़ियाँ भी उनकी हर जगह नहीं दीखती। यदा-कदा यानी दिन में एकाध बार उनके फ़्लैश हो जाने से, मैं यह जान पाता हूँ कि वे अभी भी है। उनकी फ़्लैशिंग में अब वह गति नहीं है। वे दुबकते-लुढ़कते यूँ दिखते हैं, जैसे कहीं गिरकर ख़त्म होने को हों। मैं उन पर मुस्कुराता हूँ। उनके प्रति मेरी चिढ़ अब ख़त्म हो गई है। मुझे अपने संकल्प याद नहीं रहते और वह भारी-भरकम क़िताब, जिस पर लगा खून अब जम चुका है, कितने हवालों के बीच; लोगों के समक्ष, जिसका ज़िक्र किए बग़ैर रहा नहीं जाता मुझसे उसी ऊँचाई पर, वहीं है।

संपर्क : 78, गिरधर इन्क्लेव, साहिबाबाद, गाजियाबाद-201005 (उ.प्र.), ई-मेल : akhileshramsingh22@gmail.com
मो. : 8860516166